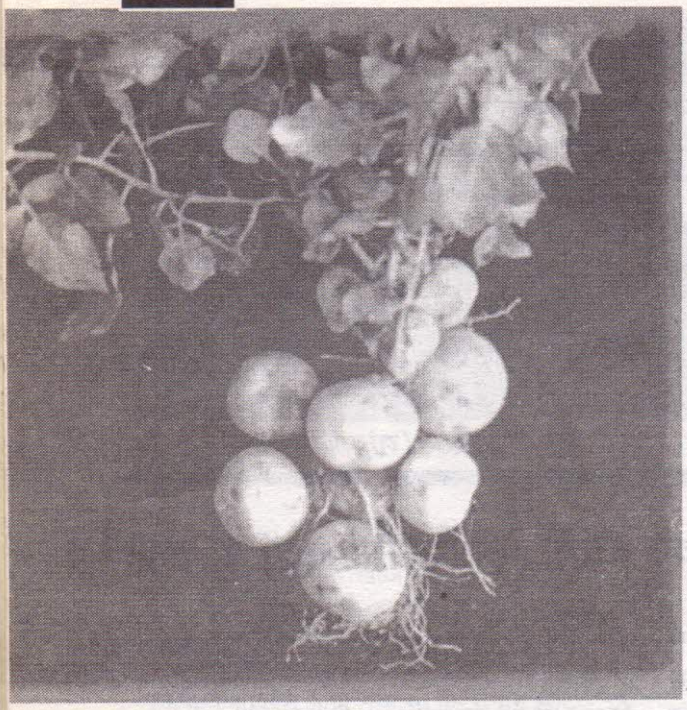

इस आलू से देश की कुपोषण की समस्या दूर करने की बात भी अतिरंजित है। कई वैज्ञानिकों ने इन दावों पर शंकाएं प्रकट की हैं। इसके पहले 'सुनहरा चावल' नामक चावल की एक जिरूप प्रजाति का भी यह कहकर बहुत प्रचार किया गया था कि इसमें विटामिन-ए ज़्यादा है और इससे दुनिया के गरीब मुल्कों में लोगों के शरीर में विटामिन-ए की कमी दूर हो जाएगी।
दरअसल कुपोषण एक आर्थिक-सामाजिक समस्या है, जिसे सिर्फ कुछ तकनीकी चमत्कारों से दूर नहीं किया जा सकता। सोयाबीन की खेती का प्रचार-प्रसार भी यह कहकर किया गया था कि सोयाबीन में बहुत प्रोटीन है और इससे भारतवासियों के शरीर में प्रोटीन की कमी दूर हो जाएगी। कहीं इसके पीछे जैव टेक्नॉलॉजी उद्योग तो नहीं, जो जन-कल्याण के बड़े-बड़े नारों की आड़ में समाज की व सरकार की स्वीकृति और मान्यता पाना चाहता हो?

क्या जीन-परिवर्तित आलू से कुपोषण समस्या हल होगी?

सुनील

जैव टेक्नॉलॉजी और जीन इंजीनियरिंग के चमत्कारों की खबरें अक्सर आती रहती हैं। ऐसी ही एक खबर है कि दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने आलू की एक ऐसी प्रजाति विकसित की है, जिसमें प्रोटीन की मात्रा ज़्यादा होगी। साधारण आलू के मुकाबले इस आलू में एक-तिहाई से लेकर 45 प्रतिशत ज़्यादा प्रोटीन होगा। इसे प्रोटेटो कहा जा रहा है। यह उपलब्धि वैज्ञानिकों ने आलू में रामदाना (या राजगिरा) का जीन डालकर हासिल की है। रामदाना में प्रोटीन की मात्रा कांफी रहती है।

यह दावा किया जा रहा है कि इस आलू से भारत में कुपोषण की समस्या हल करने में मदद मिलेगी। भारतीय बच्चों में प्रोटीन की कमी रहती है, जिसे दूर करने में यह आलू मददगार होगा। बी.बी.सी. को दिए साक्षात्कार में भारत सरकार के जैव टेक्नॉलॉजी विभाग की अध्यक्ष सुश्री मंजू शर्मा ने कहा है कि छह महीने में इसे सरकार की अनुमति मिल जाएगी। वे तो इतनी उत्साहित हैं कि स्कूलों के मध्यान्ह भोजन में इस आलू को शामिल करने की योजना भी उन्होंने बना ली है।

सरकार में बैठे लोगों का यह अति-उत्साह समझ के बाहर है। पौधों की जिनेटिक रूप से परिवर्तित (जिरूप) प्रजातियां पर्यावरण के लिए एक बिल्कुल नई चीज़ होती है। इनमें कई खतरे हो सकते हैं, जिनको पूरी तरह समझना ज़रूरी है। इसका पर्यावरण पर, लोगों के खानपान व स्वास्थ्य पर, किसानों की आर्थिक स्थिति पर तथा देश की अर्थव्यवस्था पर क्या असर पड़ेगा, इसकी बारीकी से जांच की ज़रूरत होती है। इसके पहले बी.टी. कपास की जिरूप प्रजाति को भारत सरकार ने अनुमति दी है, लेकिन उसके पहले कई सालों तक देश के अनेक राज्यों में खेतों में

इसके प्रयोग किए गए और उनके नतीजों की जांच की गई। यह समझना मुश्किल है कि सुश्री मंजू शर्मा इस आलू को कैसे छह महीनों के अंदर अनुमति दे देंगी।

फिर, बी.टी. कपास का अनुभव भी किसानों के लिए बहुत अच्छा नहीं रहा है। इस देश में यह पहला जिरूप बीज था, जिसे भारत सरकार ने अनुमति दी है। इसकी पेटेन्ट धारक तथा इसको बेचने वाली अमरीका की मोनसेन्टो कंपनी ने लंबे-चौड़े दावे किए थे। कहा था कि इससे कपास में लगने वाले कीड़े व रोग खत्म हो जाएंगे, कीटनाशकों की ज़रूरत नहीं होगी, उत्पादन बढ़ेगा, किसान की आमदनी बढ़ जाएगी और किसानों की आत्महत्याएं रुक जाएंगी। लेकिन विभिन्न राज्यों से जो खबरें मिली हैं, उसके मुताबिक ये दावे सही साबित नहीं हुए हैं। बॉलवर्म नामक कीड़े के प्रति कुछ प्रतिरोधक क्षमता तो इस कपास के पौधे में है (हालांकि यह भी समय के साथ कम या खत्म हो सकती है) लेकिन अन्य कीटों व रोगों का कोई इलाज नहीं है। कीटनाशक दवाइयों का फिर भी बहुत इस्तेमाल करना पड़ रहा है, उत्पादन में कोई विशेष बढ़ोतरी नहीं हुई है। बल्कि अत्यधिक महंगे बीजों के कारण किसान की लागत बढ़ गई है और उसे कोई फायदा नहीं हो रहा है।

ठीक इसी तरह की कई समस्याएं नए आलू की खेती में भी आ सकती हैं, जिन पर अभी तक कोई विचार नहीं किया गया है। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि वर्तमान में आलू के किसान ज़बर्दस्त संकट से गुज़र रहे हैं। पिछले वर्ष आलू के दाम बहुत गिरने और लागतें बढ़ते जाने से किसानों को बहुत नुकसान हुआ। कुछ जगहों से तो किसानों द्वारा आत्महत्याएं करने की भी खबर है। नए आलू का पेटेन्ट होगा, बीज महंगा होगा, इसमें नए रोग लग सकते हैं, तब यह आलू कैसे चलेगा? क्या सरकार इसके लिए भारी अनुदान देगी? क्या यह किसानों को और गहरे संकट में नहीं फंसा देगा?

इस आलू से देश की कुपोषण की समस्या दूर करने की बात भी अतिरंजित है। कई वैज्ञानिकों ने इन दावों पर शंकाएं प्रकट की हैं। इसके पहले 'सुनहरा चावल' नामक चावल की एक जिरूप प्रजाति का भी यह कहकर बहुत प्रचार किया गया था कि इसमें विटामिन-ए ज़्यादा है और इससे दुनिया के गरीब मुल्कों में लोगों के शरीर में विटामिन-ए की कमी दूर हो जाएगी। आज से बीस-पच्चीस वर्ष पहले मध्यप्रदेश व अन्य राज्यों में सोयाबीन की खेती का प्रचार-प्रसार भी यह कहकर किया गया था कि सोयाबीन में बहुत प्रोटीन है और इससे भारतवासियों के शरीर में प्रोटीन की कमी दूर हो जाएगी। लेकिन यह तथ्य छुपा लिया गया था कि सोयाबीन इंसान सीधे नहीं खा सकता, पचा नहीं सकता, वह मूलतः एक पशु आहार है। मनुष्य के लिए खाने योग्य बनाने के लिए उसे काफी औद्योगिक प्रक्रियाओं से परिष्कृत करना होगा। सोयाबीन की खेती तो फैल गई, लेकिन उसका प्रोटीन वाला हिस्सा यानी सोयाबीन की खली का लगभग पूरा निर्यात होता रहा। भारत के हिस्से में सिर्फ तेल आया। प्रोटीन की कमी ज्यों की त्यों रह गई। दरअसल प्रोटीन की कमी की बात तो एक बहाना था, वास्तव में युरोप में पशु-आहार की कमी पूरी करने के लिए भारत में सोयाबीन की खेती शुरू करवाई गई थी। भारतवासियों के लिए नहीं, बल्कि युरोपीय लोगों के लिए अण्डे, मुर्गे, मांस, दूध, मक्खन आदि तैयार करने के लिए सोयाबीन के ढोल पीटे गए थे।

इसी तरह का खेल एक बार फिर तो नहीं खेला जा रहा है? कहीं इसके पीछे पूरा जैव टेक्नॉलॉजी उद्योग तो नहीं, जो इस तरह के शगूफे छोड़कर समाज की व सरकार की स्वीकृति और मान्यता पाना चाहता हो? जन-कल्याण के बड़े-बड़े नारों के पीछे घोर व्यावसायिक मुनाफाखोरी के स्वार्थों और बीजों व खेती पर कब्जा करने के असली इरादों को छिपाने की कोशिश तो नहीं है? विशेषकर इसलिए भी कि युरोप में जिरूप बीजों का काफी विरोध हो रहा है और अमरीकी कंपनियों को वहां मनचाही सफलता नहीं मिल पा रही है।

सवाल यह है कि यदि प्रोटीन की कमी दूर करना है, तो प्रोटीन के परंपरागत स्रोत क्या बुरे हैं? क्यों न उन्हें बढ़ावा दिया जाए? जिस प्रोटीन समृद्ध रामदाना या राजगिरा का जीन आलू में डाला जा रहा है, उसे ही सीधे लोगों के भोजन में या स्कूलों के मध्यान्ह भोजन में शामिल करने के

बारे में क्यों नहीं सोचा जाता है? आलू में तो मात्र 1.98 (नए उत्पाद में अधिकतम 2.8 प्रतिशत) प्रोटीन होता है, जबकि गेहूं में 8-9 प्रतिशत, राजगिरा में 14.2 प्रतिशत तथा दालों में 20-24 प्रतिशत प्रोटीन है। भारतीय भोजन में प्रोटीन का एक प्रमुख स्रोत दालें हैं। भारत के लगभग हर प्रांत में विभिन्न दालों की खेती होती है। लेकिन दालों की बहुत उपेक्षा हुई है और आज़ादी के बाद प्रति व्यक्ति दाल उपलब्धता बढ़ने की बजाय कम हुई है। हरित क्रांति का एक बुरा परिणाम यह हुआ कि गेहूं और धान की खेती बहुत बढ़ी और इसने दालों तथा मोटे अनाजों का रकबा कम करके उनको विस्थापित कर दिया। सोयाबीन, गन्ना, कपास आदि व्यापारिक फसलों ने भी दालों की खेती को कम किया। इस बारे में भारतीय योजनाकार चुप बैठे हैं। दालों के अलावा भारतीयों के भोजन में दूध, मछली, अण्डे व मांस भी प्रोटीन के प्रमुख स्रोत हैं।

दरअसल कुपोषण एक गंभीर आर्थिक-सामाजिक समस्या है, जिसे सिर्फ कुछ तकनीकी चमत्कारों से दूर नहीं किया जा सकता। इसका असली कारण गरीबी, विषमता और शोषण की व्यवस्था है। कुपोषण व भुखमरी क़ो दूर करना है तो इस व्यवस्था पर चोट करना ज़रूरी है। इस तरह के तकनीकी समाधान शासकों को इसलिए भी पसंद आते हैं, क्योंकि वे कुपोषण जैसी समस्याओं की तह में नहीं जाना चाहते और सच्चाइयों से मुंह मोड़ना चाहते हैं।

कुपोषण, भुखमरी और गरीबी का सम्बंध उस गलत विकास नीति, गलत टेक्नॉलॉजी एवं गलत जीवन-शैली से भी है, जिसे आज़ादी के बाद बिना पर्याप्त सोचे-विचारे हमारे समाज ने अपनाया व हमारे शासकों ने बढ़ावा दिया। हरित क्रांति के फलस्वरूप दालों की खेती कम होना इसका महज़ एक उदाहरण है। आज से लगभग नब्बे साल पहले महात्मा गांधी ने भी बार-बार भारतवासियों के भोजन में आ रही दो विकृतियों की ओर आगाह किया था, जिनका सीधा सम्बंध पोषण व स्वास्थ्य से है। एक तो चावल को मिल में तैयार करने से उसका ऊपरी आवरण निकल जाता है जो काफी पौष्टिक होता है। पॉलिश किया हुआ चावल देखने में भले ही सुन्दर हो लेकिन खाने में बहुत घटिया है। दूसरा, गेहूं के आटे से चोकर निकाल देने से भी काफी पौष्टिक तत्व चले जाते हैं। यदि भोजन में इन दो हानियों को रोक लिया जाए, तो बिना किसी तकनीकी चमत्कार का सहारा लिए भी, भारतवासियों के पोषण में काफी सुधार हो सकता है। इसी के साथ गांधी एक दूसरा संदेश भी दे गए हैं। वह यह कि हमारी समस्याओं को दूर करने के लिए हमें पश्चिम में विकसित टेक्नॉलॉजी की अंधी नकल करने के बजाय अपनी टेक्नॉलॉजी का स्वयं विकास करना होगा। दूसरे शब्दों में हमें ज़्यादा टेक्नॉलॉजी नहीं, उपयुक्त टेक्नॉलॉजी की ज़रूरत है। जैव टेक्नॉलॉजी के बारे में भी यह बात सही लगती है। ***(स्रोत विशेष फीचर्स)***

एक मानवीय त्रुटि की कीमत

पिछले वर्ष सितंबर में यह सनसनीखेज खबर आई थी कि एक्सटेसी नामक यौनवर्धक दवाई का सेवन करने पर मस्तिष्क में क्षति हो सकती है और पार्किन्सन रोग के लक्षण उभर सकते हैं। खबर तो यह थी कि यदि आपने एक रात भी एक्सटेसी का उपयोग किया है, तो हो गया कबाड़ा!

मगर अब पता चला है कि जिस प्रयोग के आधार पर उक्त निष्कर्ष निकाले गए थे उसमें एक बचकाना भूल हो गई थी। इस वर्ष सितंबर में *साइंस* पत्रिका में एक पत्र प्रकाशित हुआ है जिसमें मूल शोधकर्ताओं ने अपने निष्कर्ष वापिस ले लिए हैं। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि जिस शीशी में से एक्सटेसी निकालकर 10 बंदरों को दी गई थी, दरअसल उस पर गलत लेबल लगा था और वास्तव में उसमें मिथ-एम्फीटेमीन नामक पदार्थ भरा था। यह एक मानवीय भूल थी मगर इसकी कीमत तो देखिए।

यह तो पहले से पता था कि एक्सटेसी दिमाग में सिरोटोनीन नामक पदार्थ के उत्पादन व उपभोग को प्रभावित करती है। उपरोक्त शोध से यह प्रमाण भी मिल गया कि 'एक्सटेसी' डोपेमीन बनाने वाली कोशिकाओं को भी हानि पहुंचाती है। ठीक यही स्थिति पार्किन्सन रोग में